बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 05-08-17

भ्रष्टाचार से निपटने को तैयार होता देश

अशोक लाहिड़ी

भ्रष्ट राजनेताओं को लेकर सहिष्णुता कम हो रही है लेकिन अब भी वे चुनाव जीतने में कामयाब हैं। इस संबंध में विस्तार से जानकारी दे रहे हैं

यह समसामयिक ही है। बुधवार 26 जुलाई को बिहार में जनता दल यूनाइटेड के नेता नीतीश कुमार ने प्रदेश के मुख्यमंत्री पद से इस्तीफा दे दिया। उनकी सरकार के उपमुख्यमंत्री तेजस्वी यादव पर जो राष्ट्रीय जनता दल प्रमुख लालू प्रसाद के बेटे हैं, भ्रष्टाचार के आरोप थे। नीतीश का कहना है कि वह सरकार चलाने में असहज थे। दो दिन बाद शुक्रवार 28 जुलाई को पाकिस्तान की सर्वोच्च अदालत ने प्रधानमंत्री नवाज शरीफ को भ्रष्टाचार के आरोप में पद के अयोग्य घोषित कर दिया। इस फैसले के बाद शरीफ को इस्तीफा देना पड़ा। दक्षिण एशिया की तमाम अन्य बड़ी घटनाओं की तरह इन घटनाओं में भी षडयंत्र सूंघा जा रहा है। बिहार के मामले में नीतीश कुमार ने भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) से हाथ मिला लिया और 24 घंटे के भीतर दोबारा सरकार बना ली। इसके साथ ही इन अटकलों को बल मिला कि सीबीआई ने लालू प्रसाद के परिवार के भ्रष्टाचार के आरोपों की फाइल खोली ही इसलिए है ताकि जदयू-राजद सरकार को अस्थिर किया जा सके।

शरीफ के मामले में कुछ लोगों का कहना है कि वहां की सेना असैनिक शासन के खिलाफ है। उसने 30 साल तक देश पर शासन किया है। जब भी कोई असैन्य सरकार लोकतांत्रिक तरीके से सत्ता में आती है तो सेना उसका कार्यकाल पूरा होने के पहले उसे अस्थिर कर देती है। शरीफ को हटाया जाना एक तरह का विधिक तख्तापलट है जिसे पनामा पेपर्स के बहाने वहां की सेना ने अंजाम दिया है। बहरहाल इन षडयंत्र सूंघते सिद्घांतों के इतर बिहार और पाकिस्तान की घटनाओं को दक्षिण एशियाई लोकतंत्र खासतौर पर भारत से निकले इस संकेत के रूप में देखा जा सकता है कि यहां उच्च पदस्थ लोगों के भ्रष्टाचार का विरोध हो रहा है। लोकतांत्रिक संस्थानों और राजनीति में भ्रष्टाचार की पहचान आसान हुई है और सामने आ रही है। वहीं नागरिक और राजनीतिक विपक्ष इसे अहम मुद्दा बनाते हैं और इससे निजात के लिए न्यायिक रास्ता लेते हैं। शायद नीतीश कुमार को यह भय सता रहा था कि भ्रष्टï माने जाने वालों के साथ का गठजोड़ उनको चुनावी मुश्किल में डालेगा। यह बात ध्यान देने लायक है कि उच्च पदस्थ लोगों में भ्रष्टाचार आजादी के बाद से ही देश में आम बहस का हिस्सा है। भारत पर नजर रखने वाले वरिष्ठï विद्वान स्टैनली कोचानेक ने कहा था, 'दुनिया में कहीं भी भ्रष्टाचार पर इतनी व्यापक चर्चा नहीं होती जितनी कि भारत में।'

सन 1950 के दशक में पंडित जवाहरलाल नेहरू के मंत्रिमंडल के मंत्री राव शिवबहादुर सिंह (पूर्व केंद्रीय मंत्री अर्जुन सिंह के पिता) को भ्रष्टाचार का दोषी पाया गया और सजा भी हुई। उन्हें एक हीरा खनन कंपनी से रिश्वत लेने का दोषी पाया गया था। गृह मंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने इस समस्या से निपटने के लिए संतनम समिति का गठन किया और सन 1960 के दशक में प्रताप सिंह कैरों से जुड़े घोटाले के चलते यह चर्चा लगतार चलती रही। सन 1970 के दशक में मंत्री एल एन मिश्रा का नाम आयात लाइसेंस घोटाले में सामने आया। बाद में उनकी बम हमले में रहस्यमय मौत हो गई। सन 1980 का दशक ए आर अंतुले घोटाले और बोफोर्स घोटाले के नाम रहा। सन 1990 के दशक में सेंट किट्स घोटाला, जैन हवाला कांड, सुखराम दूरसंचार घोटाला और लखूभाई पाठक धोखाधड़ी मामला चर्चा में रहे। इनमें चंद्रास्वामी और पूर्व प्रधानमंत्री नरसिंह राव के नाम तक सामने आए। 21वीं सदी का पहला दशक कोलगेट, 2जी स्पेक्ट्रम आवंटन, राष्ट्रमंडल खेल और व्यापम घोटाले लेकर आया। बहरहाल उच्च स्थानों पर भ्रष्टाचार की चर्चा से कोई ठोस नतीजा नहीं निकलता। इस मामले में मीडिया केवल बुरी खबरों को बढ़ाचढ़ा कर पेश करता है। उच्च पदस्थ लोगों ने भी भ्रष्टाचार को लेकर तमाम बढ़ीचढ़ी बातें कीं। सन 1985 में तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने देश को आश्वस्त किया था कि भ्रष्टाचार के खिलाफ जंग चलती रहेगी। बहरहाल, अगर कोई जंग छिड़ी भी तो उसके परिणाम नजर नहीं आए। वर्ष 2014 के आम चुनाव के पहले प्रचार अभियान में प्रधानमंत्री नरेंद्र

मोदी ने घोषणा की थी, 'न खाऊंगा, न खाने दूंगा।' तो क्या देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था भ्रष्टाचार से इसलिए लड़ रही है क्योंकि नेतृत्व में परिवर्तन हुआ है। नेता मायने रखते हैं लेकिन केवल नेतृत्व में बदलाव को इसके लिए जिम्मेदार ठहराना कोई ठीक नहीं। लोकतांत्रिक व्यवस्था में नेता संविधान, संसद, नौकरशाही और न्यायपालिका के प्रति जवाबदेह होते हैं। इतना ही नहीं, एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में नेता जनता या मतदाताओं का ही चुना हुआ होता है। कहा जाता है कि लोगों को वही नेता मिलता है जिसके वे लायक होते हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनता महत्त्वपूर्ण है। चुने हुए नेता उनके प्रतिनिधि होते हैं। संभव है भारतीय **लोकतंत्र** भ्रष्टाचार का सामना बदलते मतदाताओं में गरीबी, निरक्षरता और संचार की कमी जैसी दिक्कतें दूर होने से भी कर रहा हो। सन 2014 के लोकसभा चुनाव में एक सर्वेक्षण में शामिल लोगों में से 12 फीसदी ने कहा था कि भ्रष्टाचार उनके लिए सबसे बड़ी चिंता है। इससे आगे केवल मुद्रास्फीति थी जिसे 19 फीसदी लोगों ने बड़ी समस्या बताया था।

करीब 2,500 साल पहले कौटिल्य का यह कहना ठीक हो सकता है कि उच्च पदों पर बैठकर भ्रष्टाचार से बचना उतना ही मुश्किल हो सकता है जितना कि जिह्वा पर रखे मधु को खाने से बचना। मौजूदा भारत जैसे सूचित समाज में अब **भ्रष्टाचार** का पता लगाना और आसान है। सामंती संस्कृति के साथ ही उच्च पदों पर खराब व्यवहार के प्रति सहिष्णुता कम होती जा रही है। सार्वजनिक स्थानों पर बैठकर धन के आकर्षण से बच पाना मुश्किल हो सकता है लेकिन आम जनता नेताओं से यही उम्मीद करती है।लेकिन अभी तक ऐसी अवधारणा देखने को नहीं मिल रही है जिसमें गलत करने वालों को निर्वाचित ही न किया जाए। उदाहरण के लिए सीबीआई द्वारा नरसिंह राव सरकार में संचार मंत्री रहे पंडित सुखराम के घर तमाम संपत्ति बरामद करने के बावजूद वह सन 1998 में हिमाचल प्रदेश में मंडी से विधानसभा चुनाव जीतने में कामयाब रहे। वह भी बहुत भारी बहुमत से। भ्रष्टाचार के गंभीर आरोपों के बावजूद जे जयललिता तमिलनाडु में अन्नाद्रमुक के लिए चुनाव लगातार जीतती रहीं। बिहार में लालू प्रसाद चारा घोटाला मामले में दोषी ठहराए जा चुके हैं लेकिन इसके बावजूद वहां राजद का प्रदर्शन **बहुत** अच्छा रहा है। उनके परिवार के तमाम लोगों को चुनावी जीत मिली। उम्मीद की जानी चाहिए अगले लोकसभा चुनाव तक यह **प्रवृत्ति** भी बदल जाएगी।

दैनिक जागरण

Date: 05-08-17

अभिव्यक्ति की आजादी पर बेतुका रवैया

ए. सूर्यप्रकाश, [लेखक प्रसार भारती के अध्यक्ष एवं वरिष्ठ स्तंभकार हैं]

मधुर भंडारकर की हाल में रिलीज फिल्म इंदु सरकार को सिनेमाघरों तक पहुंचने के लिए खासी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। एक ओर कांग्रेस के विरोध-प्रदर्शन तो दूसरी ओर केंद्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड (सीबीएफसी) यानी सेंसर बोर्ड द्वारा फिल्म में काट-छांट की सलाह देना **दुर्भाग्यपूर्ण** था। भंडारकर की फिल्म आपातकाल पर नहीं, बल्कि उसकी पृष्ठभूमि पर बनी है। बावजूद इसके फिल्म की रिलीज रोकने के लिए कांग्रेस ने हरसंभव प्रयास किए और सेंसर बोर्ड ने भी अनावश्यक हस्तक्षेप किया। यह दर्शाता है कि हमारे देश में संविधान प्रदत्त अभिव्यक्ति की आजादी कितनी खोखली है। इंदिरा गांधी ने 1975 से 1977 के बीच एक जीवंत लोकतंत्र को निरंकुश शासन प्रणाली **में** तब्दील कर दिया था। तब उन्होंने अपने राजनीतिक विरोधियों को जेलों में कैद कर उनके खिलाफ यातना-दमन का एक क्रूर चक्र चलाया जिस पर आज भी सिहरन होने लगती है। हमें अपनी आजादी और लोकतंत्र को आपातकाल के चंगुल से छुड़ाए हुए 40 साल बीत गए, बावजूद इसके उस काले अध्याय पर आज तक एक भी ऐसी फिल्म नहीं बनी जिससे वर्तमान पीढ़ी उसके अत्याचारों से वाकिफ हो सके। जब एक **लोकप्रिय** और प्रतिभावान निर्देशक ने आपातकाल की पृष्ठभूमि पर फिल्म बनाई तब उसके खिलाफ विरोध-प्रदर्शन किया जाने लगा। **कांग्रेस**, जो 2014 में सत्ता गंवाने के बाद से ही अभिव्यक्ति की आजादी को लेकर हंगामा खड़ा कर रही है, वह नहीं चाहती कि भारतीय **लोकतंत्र** के सबसे भयावह दौर की

हकीकत से देश की जनता वाकिफ हो, जब देश तानाशाही के चंगुल में चला गया था। एक राजनीतिक पार्टी को इससे होने वाली परेशानियों का कोई भी अंदाजा लगा सकता है, लेकिन यह समझ से परे है कि आखिर सेंसर बोर्ड को इससे क्या दिक्कत थी?

देश में लोकतंत्र की मजबूती में यथासंभव योगदान देना देश की हर संस्था का दायित्व है। सेंसर बोर्ड के कंधों पर भी समान रूप से यह जिम्मेदारी है। आखिर वह आपातकाल की सच्चाई दिखाने का विरोध कैसे कर करता है? सेंसर बोर्ड द्वारा जताई गई कुछ आपत्तियां वास्तव में बेतुकी थीं। मधुर भंडारकर के अनुसार सीबीएफसी ने 'भारत की एक बेटी ने देश को बंदी बनाया हुआ है और तुम लोग जिंदगी भर मां-बेटे की गुलामी करते रहोगे' जैसे संवाद पर सवाल उठाए थे और उन्हें फिल्म से हटाने को कहा था। आपातकाल के जुल्मो-सितम के बारे में बड़े पैमाने पर लिखा जा चुका है। ढेरों किताबें और अखबारों में हजारों आलेख प्रकाशित हो चुके हैं। किसी समाचार पत्र के स्तंभकार के समान ही एक फिल्म निर्देशक के पास भी अभिव्यक्ति की आजादी क्यों नहीं हो सकती है? इसके अलावा सेंसर बोर्ड ने शुरू में, 'मैं तो 70 साल का बूढ़ा हूं, मेरी नसबंदी क्यों करा रहे हो?' जैसे डायलॉग भी फिल्म से हटाने को कहा था। हालांकि बाद में यह सेंसर बोर्ड की कैंची से बच गया, लेकिन सवाल है कि बोर्ड को इस पर क्यों आपत्ति हो रही थी? क्या यह सच नहीं है कि आपातकाल के दौरान लोगों पर जबरन नसबंदी थोपने जैसा क्रूर अपराध किया गया था? तब सरकारी कर्मचारियों और शिक्षकों सहित लाखों लोगों की जबरदस्ती नसबंदी कर दी गई थी। संजय गांधी का विचार था कि सिर्फ बलपूर्वक ही देश की बढ़ती आबादी पर रोक लगाई जा सकती है। लिहाजा जिनके दो या दो से अधिक बच्चे थे उन्हें जबरन नसबंदी कैंपों में लाया गया। आपातकाल की ज्यादतियों की जांच करने वाले शाह आयोग ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि जो लोग नसबंदी कराने से मना कर देते थे उन्हें मेंटेनेंस ऑफ इंटरनल सिक्योरिटी एक्ट यानी मीसा के तहत जेल में ठूंस दिया जाता था। उन्हें तभी छोड़ा जाता था जब वे डॉक्टर द्वारा जारी नसबंदी का प्रमाणपत्र दिखाते थे। अब हमें क्या करना चाहिए? अब हमें फिल्म सेंसरशिप से संबंधित जाने-माने फिल्मकार श्याम बेनेगल की अध्यक्षता में गठित समिति की सिफारिशों को लागू करने की मांग करनी चाहिए। इस समिति ने कहा है कि सीबीएफसी की भूमिका सिर्फ एक फिल्म प्रमाणन अथॉरिटी के रूप में ही होगी। इसकी प्रकृति सेंसर बोर्ड की नहीं होगी। अर्थात वह फिल्मों को सेंसर करने या फिल्मों में किसी तरह की काट-छांट का सुझाव नहीं देगा, बल्कि मात्र उनके प्रमाणन के काम तक सीमित रहेगा। इस प्रकार वह सिनेमाटोग्राफ एक्ट की धारा 5बी (1) के उल्लंघन पर फिल्म को प्रमाणित करने से इन्कार कर सकता है।

इसी तरह अमत्र्य सेन पर बनी डॉक्यूमेंट्री के संबंध में भी सेंसर बोर्ड के फरमान समान रूप से निरर्थक हैं। डॉक्यूमेंट्री निर्माता सुमन घोष ने बताया है कि बोर्ड ने उनसे गुजरात, गाय और हिंदुत्व जैसे शब्दों को म्यूट यानी खामोश करने को कहा था। हम हाल के महीनों में गाय के नाम पर कुछ उपद्रवी गुटों द्वारा अंजाम दी गई हिंसक वारदातों के बाद देश में छिड़ी गोरक्षा पर बहस से पूरी तरह वाकिफ हैं। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने स्वयं गोरक्षा के नाम पर हिंसक अपराधों को अंजाम दे रहे तत्वों की कड़े शब्दों में निंदा की है और राज्य सरकारों से उनसे कठोरता से निपटने को कहा है। आखिर इसकेबावजूद सेंसर बोर्ड दिखावटी नैतिकता का प्रदर्शन क्यों कर रहा है? इससे जाहिर होता है कि जितनी जल्दी बेनेगल समिति की रिपोर्ट लागू होगी, फिल्म उद्योग के लिए उतना ही बढ़िया होगा। मधुर भंडारकर का कांग्रेस द्वारा किया गया विरोध सिर्फ यही दर्शाता है कि आपातकाल के बाद पार्टी में कुछ नहीं बदला है। कांग्रेस ने उससे कुछ भी सबक नहीं लिया है। तब कांग्रेस ने लोकप्रिय गायक किशोर कुमार को आकाशवाणी और दूरदर्शन पर प्रोग्राम करने से रोक दिया था। यहां तक कि ग्रामोफोन कंपनियों को किशोर कुमार की रिकॉर्डिंग्स बेचने तक से रोक दिया था। तब इंदिरा गांधी सरकार ने 'किस्सा कुर्सी का' और 'आंधी' जैसी फिल्मों को भी प्रतिबंधित कर दिया था और अब कांग्रेस की भृकुटियां मधुर भंडारकर की फिल्म पर तन गईं और उसने फिल्म पर रोक लगाने की मुहिम पुरजोर तरीके से चलाई। इंदु सरकार को पूरे देश में लोग पसंद कर रहे हैं, फिर भी कांग्रेस का बेतुका विरोध जारी है। वह यह भी नहीं देख रही है कि पिछले दिनों सर्वोच्च न्यायालय ने भी इस फिल्म पर रोक की मांग को सिरे से खारिज कर दिया। इस फिल्म पर कांग्रेस के कोलाहल से ज्यादा अभिव्यक्ति की आजादी का नारा बुलंद करने वालों की गहरी चुप्पी कहीं अधिक चौंका रही है। लगता है कि वे सभी फिलहाल अपने खोल में छिप गए हैं। ऐसे में क्या हम उनकी चुप्पी का अर्थ फिल्म पर प्रतिबंध की मांग का मौन समर्थन से लगाएं? पिछले चार दशक से अधिक समय से आपातकाल की भयावहता को आम जनता की नजरों से ओझल रखने के लिए इन लोगों ने हरसंभव जतन किया है। आखिर वे क्यों चाहते हैं कि भारत में फासीवाद की वह दुर्भाग्यपूर्ण घटना हमेशा के लिए दफन रहे? उनके इरादे जो भी हों, लेकिन जो लोग भी आपातकाल के बारे में बनी इस फिल्म पर प्रतिबंध लगाने की मांग कर रहे हैं उन्हें इस सच्चाई से वैधानिक चेतावनी की तरह से अवगत कराना जरूरी है कि इस तरह वे अपनी अभिव्यक्ति की आजादी के अधिकार को हमेशा के लिए खो देंगे।